****

अध्याय ·2·

हिन्दी के असंगत नाटक और मुद्राराक्षस

****

अध्याय : 2

हिन्दी के असंगत नाटक और मुद्राराक्षस

भूमिका -

स्वतंत्रता के पश्चात् हिन्दी नाट्य आंदोलन को पाश्चात्य नाट्य साहित्य के ऐब्सर्ड नाट्य-शिल्प (असंगत नाट्य-शिल्प) ने ही सबसे अधिक प्रभावित किया है। हिन्दी की असंगत नाट्य विधा स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी नाट्य साहित्य की नवीनतम उपलब्धि है। पाश्चात्य साहित्य में असंगत नाट्य-शिल्प का आरंभ द्वितीय विश्वयुद्ध के भीषण परिणामों से निर्माण हुई संत्रासजन्य परिस्थितियों के कारण हुआ। विश्वयुद्धों ने मनुष्य के जीवन को ही नकार दिया और अस्तित्त्व की पंगुता, भय, आतंक, अनास्था, अविश्वास, परवशता, आत्मविश्वासहीनता और टूटते मानवीय संबंधो ने व्यक्ति के जीवन को दमित, कुंठित, खंडित, विश्रृंखल, अपराधग्रस्त, क्षणभंगुर और असहज बना दिया। इस विघटित मानसिकता का प्रभाव साहित्य पर भी हुआ और साहित्य की विभिन्न विधाएँ इस विघटित मानसिकता को प्रकट करने का साधन बन गई। नाटक में तो यह प्रवृत्ति एक आंदोलन बनकर उपस्थित हुई और अनेक पाश्चात्य नाटककारों ने इस शिल्प द्वारा युगीन असंगतियों को वाणी दी।

पश्चिम की तरह भारतीय जन-जीवन पर भी विश्वयुद्धों, भौतिक वृत्तियों और मशीनी अविष्कारों का परिणाम हुआ। यद्यपि पश्चिम की तरह यह परिणाम उतना भीषण नहीं, फिर भी यहाँ के जीवन का व्यक्ति भी अकेलेपन, क्षणभंगुरता, संबंधहीनता, आतंक तथा अविश्वास की भावना से आक्रांत है। राजनीति के विषैले हथकण्डे, अर्थलिप्सा, युवा पीढ़ी की उच्छृंखलता स्त्री-पुरुष संबंध, समानता का प्रश्न, दायित्त्वहीनता, भ्रष्टाचार एवं युग के अभावों ने भारतीय जन-जीवन पर एक प्रश्नचिह्न लगा दिया है।औद्यागीकरण के परिणाम -स्वरूप महानगरों में आकर बसने वाले लोग संवेदनाहीन मशीनी जिन्दगी के शिकार बन गये है। ग़रीबी और बेराजगारी ने यहाँ के व्यक्ति को विशेष रूप से तोड़ा है, जिससे उसका जीवन तनावपूर्ण, अर्थहीन और अनिश्चित बन गया है।

पाश्चात्य ऐब्सर्ड नाट्य-शिल्प का प्रभाव और उपर्युक्त युगीन परिस्थितियों के कारण यहाँ के नाटककारों ने भी असंगत नाट्य-शिल्प द्वारा विसंगत परिवेश और उसमें छटपटाते सामान्य मनुष्य की पीड़ा को वाणी देने का प्रयास किया है।

हिन्दी के असंगत नाटककार और उनके नाटक -

भले ही "असंगत नाट्य सैमुएल बेकेट के साथ-साथ 1950 के बाद काफी प्रचलित और प्रसिद्ध हुआ हो, लेकिन भारतवर्ष में ही एक बेकेट इसके वर्षों पूर्व "भुवनेश्वर" के नाम से कई असंगत नाटक लिख चुका था, अलबत्ता उसे उतना प्रचार और प्रसार प्राप्त नहीं हो सका जितना सौभाग्यवश बेकेट को प्राप्त हुआ।"[1] भुवनेश्वर के बाद स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी नाट्य-साहित्य में असंगत नाटकों की परम्परा पंद्रह वर्षों तक खंडित रही, जो 1963 में विपिनकुमार अग्रवाल के नाटकों से फिर प्रारम्भ होती है। भुवनेश्वर और विपिनकुमार अग्रवाल के अतिरिक्त असंगत नाट्य-परम्परा में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान देने वाले हिन्दी नाटककारों में डॉ॰लक्ष्मीकांत वर्मा, डॉ॰शम्भूनाथ सिंह, काशीनाथ सिंह, मुद्राराक्षस, मणि मधुकर, डॉ॰सत्यव्रत सिन्हा, डॉ॰लक्ष्मीनारायण लाल, राजकमल चौधरी, बृजमोहन शाह, रमेश बक्षी, रामेश्वर प्रेम, सुदर्शन मजीठिया, हमीदुल्ला, सुदर्शन चोपड़ा, शांति मेहरोत्रा, रमाशंकर निलेश, चंद्रशेखर तथा डॉ॰चंद्र के नाम उल्लेख्य हैं। हिन्दी के इन असंगत नाटककारों के नाटकों की संक्षिप्त जानकारी इस प्रकार हैं-

भुवनेश्वर प्रसाद -

आधुनिक हिन्दी नाटक में कथ्य, शिल्प तथा रंगमंच की दृष्टि से युगान्तर उपस्थित करने वाले प्रयोगशील नाटककारों में भुवनेश्वर सर्वप्रथम है। नाटक के घिसे-पिटे परम्परागत ढाँचे को तोड़ने का साहस हिन्दी नाट्य-साहित्य में सर्वप्रथम भुवनेश्वर ने ही किया। "भुवनेश्वर का महत्त्व हिन्दी नाटक में एक नयी शैली का सूत्रपात करते हुए प्रवर्तक कार्य करने की दृष्टि से है।"[2] भुवनेश्वर के नाटकों से ही हिन्दी में आधुनिकता का आरम्भ होता है, इसीलिए उन्हें हम आधुनिक नाटकों का आद्य प्रणेता कह सकते हैं।

हिन्दी में असंगत नाटक का आरम्भ भुवनेश्वर के "**कारवां तथा अन्य एकांकी**" में संकलित "ऊसर" तथा "**तांबे के कीड़े**" से होता है। भुवनेश्वर के ये नाटक असंगत नाट्य-शिल्प के सशक्त उदाहरण हैं। उनका "ऊसर" नाटक (1938) एक कथाविहीन नाटक है, जो जीवन के खोखलेपन और अकेलेपन के एहसास तथा जीवन की विसंगतियों को बेतुके संवाद और अजीबोग़रीब हरकतों द्वारा अभिव्यक्त करता है। भुवनेश्वर का "**स्ट्राइक**" नामक एकांकी भी असंगत नाट्य-परम्परा के अंतर्गत आता है, जिसमें स्त्री पुरुष के वैवाहिक

सम्बन्धों की असंगति पर प्रकाश डाला गया है।

असंगत नाट्य शिल्प और रंगमंच की दृष्टि से **"तांबे के कीड़ें"** (1946) भुवनेश्वर का सबसे महत्त्वपूर्ण नाट्य प्रयोग है, जिसका सफल मंचन इलाहाबाद के "पैलेस सिनेमा हॉल" में श्री जीवन लाल गुप्त के निर्देशन में मिति 26-12-75 को हुआ था। भुवनेश्वर ने इसमें सामाजिक व्यवस्था पर एक तीखा व्यंग्य किया है। **"तांबे के कीड़ें"** नायकत्त्वहीन रचना है। परम्परागत नाटकों की तरह न इसमें कोई कथा है, न कथा-विकास की परम्परागत सीढ़ियाँ है, न पात्रों की आपस में कोई संगति या मेल है और न ही पात्रों का चरित्र-चित्रण है। मंच पर केवल एक ही पात्र है- रंग-बिरंगे शोख कपड़ों में, हाथ में बड़ा सा झुनझुना लिये खड़ी अनाउन्सर स्त्री। शेष सभी पात्र रिक्शावाला, अफसर, मसरूफ पति, परेशान रमणी, पागल आया, निर्मला - अपने नेपथ्य स्वर में ही अपनी उपस्थिति और "ट्रेजेडी" का आभास कराते हैं।

"तांबे के कीड़ें" की तिलमिलाहट, तल्खी, आदमी की बेचेनी, अकेलेपन की पीड़ा, तनावपूर्ण वातावरण, शिल्प का नयापन, आक्रामक चित्र, असम्बद्ध भाषा और संवादहीनता की स्थिति ऐब्सर्ड नाट्य परम्परा का सशक्त उदाहरण है। हिन्दी में यह सर्वथा नयी रचना थी, बल्कि विश्वसाहित्य में भी असंगत नाट्य शिल्प का आरंभ यहीं से माना जाना चाहिए क्योंकि यह जेने, बेकेट, आयनेस्को से पहले की रचना है। भाषा को एकदम बदलकर मानवीय स्थितियों को पूरी संवेदना के साथ प्रस्तुत करने में "तांबे के कीड़े" बेजोड़ हैं। कुल मिलाकर भुवनेश्वर के इस नाटक में भारतीय नाट्य साहित्य में असंगत नाटक का स्वरूप पहली बार उपस्थित हुआ है। पर चूँकि हिन्दी में उस समय न रंगमंच था, न सही समीक्षक, न रंगकर्मी, न अभिनेता और न ही सही निर्देशक, इसलिए यह नाटक विश्व-साहित्य में अपना पृथक् स्थान रखते हुए भी अजनबी, अलक्षित-सा रह गया। उस समय भुवनेश्वर "पागल" कहकर और "तांबे के कीड़े" ऊलजलूल रचना कहकर छोड़ दी गई। जो जीनियस के लक्षण थे, वह "पागलपन" के लक्षण माने गये। यह समय से पहले पैदा होने का दंड था। वास्तव में भुवनेश्वर का व्यक्तित्त्व अपने समकालीन साहित्यकारों में अकेला और विशिष्ट है, क्योंकि इस स्तर की रचनात्मक शक्ति हिन्दी में शायद ही दिखाई पड़ती है।[3]

<u>विपिनकुमार अग्रवाल</u> -

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी नाटक साहित्य में भुवनेश्वर के बाद असंगत नाट्य-परम्परा में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान देकर इस विधा को पुनः प्रतिष्ठित करने **का कार्य विपिनकुमार**

अग्रवाल ने किया। उनका **"तीन अपाहिज"** (1963) नामक ग्यारह लघु नाटकों का संग्रह स्वातंत्र्योत्तर भारत में निर्माण हुई परिस्थितियों और इन परिस्थितियों के कारण उत्पन्न मानवीय जीवन की विसंगतियों और विद्रूपताओं को बेतुके संवाद और हरकत की भाषा द्वारा रेखांकित करता है। डॉ·सुषम बेदी के अनुसार "तीन अपाहिज" पूरा-पूरा भारतीय मनःस्थिति का नाटक है। आज़ादी के बाद के निकम्मेपन, भ्रष्टाचार, खंडित आस्थाओं और शब्दजाल की राजनीति से अपाहिज हुआ भारतीय मानस ही इस नाटक के भीतर से व्यंग्य और "आयरनी" के या विसंगति के स्तर पर उभरता है।"[4] संग्रह के अन्य नाटक "ऊँची-नीची टांग का जांघिया", "उत्तर का प्रश्न", "रेल कब आयेगी", "उलटा-सीधा स्वेटर", "एक स्थिति", "यह पूरा नाटक एक शब्द है", "कूड़े का पीपा", "अदृश्य व्यक्ति की आत्महत्या", तथा "अखबार के पृष्ठों से" आदि भी असंगत नाट्-शिल्प को आधार बनाकर लिखे गये हैं। डॉ·श्रीमती रीताकुमार के अनुसार उनका यह संग्रह हिन्दी नाटकों की एक नयी दिशा का प्रतिनिनिधत्त्व करता है।[5]

डॉ·अग्रवाल का **"लोटन"** (1973) शीर्षक तीन अंको का लघु नाटक भी असंगत नाटकों में विशेष रूप से उल्लेख्य है। औद्योगीकरण से उत्पन्न परिस्थितियों में विवश होकर अपनी जिन्दगी जीने को बाध्य मनुष्य जीवन की विसंगतियों को यह नाटक रूपायित करता है। पटरी से उतरकर इधर-उधर भागती डाकगाडी और अपनी आजीविका के लिए लक्ष्यहीन तथा निरर्थक कोशिश करने वाले मनुष्य में नाटककार को कोई अंतर दिखाई नहीं देता। "तीन अपाहिज" की तरह इसमें भी कथा या चरित्र महत्त्वपूर्ण नहीं, महत्त्वपूर्ण है विसंगति जिसे नाटककार ने असंगत नाट्य-शिल्प के माध्यम से अभिव्यक्त किया है।

डॉ·लक्ष्मीकांत वर्मा -

नयी कविता के सशक्त कवि और समीक्षक के रूप में प्रसिद्ध डॉ·लक्ष्मीकांत वर्मा का **"अपना-अपना जूता"** (1968) तथा **"आदमी का ज़हर"** नामक लघु नाटक स्वातंत्र्योत्तर भारत में व्याप्त भ्रष्टाचार, संवेदनहीनता, अवसरवादिता, जीवन के खोखलेपन, स्वार्थपूर्ण नीतियों और इन सबसे निर्मित विसंगत परिवेश को व्यंग्यपूर्ण भाषा में प्रस्तुत करते हैं। असंगत नाट्य-शिल्प की दृष्टि से डॉ·वर्मा का **"रोशनी एक नदी है"** (1974) एक महत्त्वपूर्ण और सफल प्रयोग है। पूरे नाटक में भीड़, शोर और उसके बीच पिसते मनुष्य की नियति ही मुख्य है। नाटक के सभी पात्र विसंगत हैं और भाषा व्यंग्यात्मक है। पूरा नाटक एक ही अंक में घटित होता है। प्रतीकात्मकता, सांकेतिकता, मुखौटों का प्रयोग तथा दर्शकों को नाटक के साथ जोड़ने का प्रयास नाटक की महत्त्वपूर्ण विशेषताएँ हैं।

डॉ॰शम्भूनाथ सिंह -

असंगत नाट्य-परम्परा में डॉ॰सिंह के **"दीवार की वापसी"** और **"अकेला शहर"** महत्त्वपूर्ण प्रयोग हैं। इनमें से **"दीवार की वापसी"** एकांकी रूप में है, जिसमें मनुष्य की भीतरी करूणा को व्यक्त किया गया है। नाटक का कथ्य कुछ लीक से हटकर है, पर मंचविधान पारम्परिक ही है। नाटक के सभी पात्र "क" की तरह भ्रम में जी रहे हैं। सब असली चेहरों में नकली है। नाटक के संवाद बेतुके हैं और भाषा सपाट बयानी लिए हुए है। डॉ॰सिंह का **"अकेला शहर"** तीन अंको का नाटक है, जिसमें व्यक्ति के अकेलेपन का एहसास कराया गया है।

काशीनाथ सिंह -

काशीनाथ सिंह का **"घोआस"** (1967) वर्तमान भारतीय जन-जीवन की अकर्मण्यता को विसंगत शैली में प्रस्तुत करता है। नाटक के सभी पात्र अपनी-अपनी समस्याओं से घिरे-निरर्थक और संत्रस्त जिन्दगी गुजारते हैं। नाटक में न कोई व्यवस्थित कथा है, न उसका चरमोत्कर्ष। संवादों में गतिशीलता का अभाव है, जिससे नाटक बहुत "स्लो" चलता है और दर्शकों को ऊबा भी सकता है। वैसे नाटक खुले मंच का है और तीनों अंकों का रंग-स्थल भी एक ही है। प्रतीकात्मकता की दृष्टि से नाटक विशेष महत्त्वपूर्ण है।

मणि मधुकर -

मणि मधुकर का बहुचर्चित एवं रंगमंच पर अनेक बार सफलता के साथ मंचित **"रसगंधर्व"** (1975) कथ्य और शिल्प के धरातल पर एक मौलिक प्रयोग है। लोकतत्त्व और ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को समेटे हुए यह नाटक देश की राजनैतिक, सामाजिक, साहित्यिक, और नैतिक विसंगतियों के परिवेश में घिरे सामान्य आदमी की जिन्दगी को सशक्तता से अंकित करता है। असंगत नाटकों की तरह इस नाटक में भी न कोई कथानक है, न कथानक विकास की परम्परागत स्थितियाँ। परम्परागत नाटकों की तरह इसमें नायक और नायिका भी नहीं है। संवाद उखड़े हुए, असम्बद्ध, अनर्गल और बेतुके होते हुए भी काव्यात्मकता से परिपूर्ण है, जो आधुनिक विसंगत परिवेश और आम आदमी की विडम्बित स्थिति को व्यंग्यात्मकता से प्रस्तुत करते हैं। एक उदाहरण दृष्टव्य है-

ब : सन्तरीजी, तुम काहे को गंदगी की फिक्र करते हो ? गंदगी तो हमारे खून में है।

स : उससे कभी मुक्ति नहीं मिल सकती।

द : यहाँ छिपकलियाँ हैं और पिस्सू भी।

संतरी : मुझे अपने कार्यक्षेत्र में स्वच्छता रखने का आदेश मिला है।

स : तुम्हें आदेश का पालन करना चाहिए।

द : चाहो तो बन्दूक से झाड़ू का काम ले सकते हो।

ब : ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं, जब यह उपाय अत्यंत कारगर सिद्ध हुआ।

स : वियतनाम में बन्दूक से झाड़ू का काम लिया गया और सफाई हो गई।

द : बंगला देश में भी यही हुआ था।

संतरी : (भौंचक-सा) मैं तुम्हारे सुझाव पर विचार करूँगा।[6]

"रसगंधर्व" पूरी तरह से असंगत नाटक नहीं है। उसमें एक साथ यथार्थवादी, फेंटेंसी, प्रतीकात्मक, लोक-नाट्य और असंगत नाट्य-शिल्प की विशेषताएँ दिखाई देती हैं। इस दृष्टि से यह हिन्दी में अपने ढंग का अकेला प्रयोग है। इसमें एक ही युवती छह रूपों में अभिनय करती है। इसी प्रकार स्वयं नाटककार भी नाटक में कवि, अफसर, सूत्रधार आदि कई रूपों में उपस्थित है। सम्पूर्ण नाटक कार्य-व्यापार से पुष्ट है और जेल के एक ही सेट पर मंचित होता है। भाषा सशक्त और नाट्यात्मक है।

मणि मधुकर का "खेला पोलमपुर" नाटक भी असंगत नाट्य-शैली में लिखा हुआ है, जो विसंगत परिवेश में घुटते-कराहते सामान्य मनुष्य के आक्रोश को पूरी सजीवता के साथ अंकित करता है। डॉ॰जयदेव तनेजा के शब्दों में-"लोककथा, गीत, संगीत, अन्याय और अत्याचार के विरूद्ध जन-आक्रोश, एब्सर्ड-से लगने वाले स्थितियों के अन्तर्विरोध को उजागर करते पैने संवाद तथा अभिनव लचीला रंग-शिल्प जैसी चिर-परिचित मधुकरीय विशेषताएँ हमें यहाँ भी देखने को मिलती है।"[7]

डॉ॰सत्यव्रत सिन्हा -

मूलतः निर्देशक, अभिनेता और रंगकर्मी डॉ॰सिन्हा का "अमृतपुत्र" (1974) आधुनिक भावबोध से जुड़ा एक ऐसा असंगत नाटक है, जो अनास्था, निरर्थकता और मूल्यहीनता के इस युग में मानव-मात्रा में आस्था और विश्वास जगाता है। जो मानव कभी अमृतपुत्र कहलाता था, आज उसकी स्थिति क्या है ? यही दिखाना नाटककार को अभिप्रेत है। नाटक के सभी पात्र नपुंसक आक्रोश लिये जी रहे हैं-आपस में झगड़ना और फिर समझोता कर लेना ही उनकी नियति है। एक ही दृश्य-बंध वाले इस नाटक की मंच-सज्जा यथार्थवादी है। संवाद संक्षिप्त और व्यंग्यपूर्ण हैं तथा पूरा नाटक कार्य-व्यापार से युक्त है। नाटक का प्रारंभ कुछ शिथिल और ऊबा देने वाला है, पर कुल मिलाकर कथ्य और शिल्प के स्तर पर यह एक सफल नाट्य-कृति है।

डॉ॰लक्ष्मीनारायण लाल -

नाटक के क्षेत्र में पूरी तरह समर्पित होकर उतरने वाले नाटककारों में डॉ॰लाल का नाम अग्रगण्य है। उनके प्रायः सभी नाटकों-विशेषकर **"काफी हाऊस में इंतजार"**, **"सूर्यमुख"**, **"मिस्टर अभिमन्यु"**, **"अब्दुला दीवाना"**, **"सबरंग मोहभंग"** आदि- में मानव जीवन की विभिन्न असंगतियों का चित्रण कम-अधिक मात्रा में हुआ है। पर सही अर्थो में उनके **"सबरंग मोहभंग"** नाटक में ही असंगत नाट्य-शैली का सर्वाधिक प्रयोग हुआ है। दो अंको में विभाजित इस नाटक में बिखरी हुई स्थितियाँ है, जिन्हें कई छोटे-मोटे दृश्यों में प्रदर्शित किया गया है और ये दृश्य भी परस्पर सम्बद्ध नहीं हैं। नाटक में वर्तमान समाज की कई समस्याएँ एक साथ उठाई गई हैं, पर उनका कोई समाधान नहीं दिया गया है।

नाटक के पहले अंक में पाँच दृश्य हैं। पहले दृश्य में युवक और युवती के वार्तालाप द्वारा दर्शक और अभिनेता की मानसिकताओं की टकराहट अभिव्यक्त हुई है। दूसरे दृश्य में सूत्रधार इन दोनों में तालमेल बिठाने के लिए दोनों को मंच पर बुलाकर उनके सामने "सड़क के रोमांस" का दृश्य प्रस्तुत करता है। तीसरे दृश्य में "चौके-चूल्हे के रोमांस" द्वारा जीवन की वास्तविकता और रोजी-रोटी की समस्या तथा गृहस्थी की आये दिन की किच-किच का चित्रण है। चौथे दृश्य में मांस का नया स्वाद पाने को लालायित राजा मनुष्य का मांस खाता है। पाँचवे दृश्य में महाभारत की कथा को उलट-फेर करके प्रस्तुत किया गया है। दूसरा अंक एक स्वतंत्र नाटक के रूप में है जिसमें समुद्र मंथन के मिथकीय संदर्भों का प्रतीकात्मक उपयोग करते हुए भारतीय समाज के आंतरिक व्यभिचार और आधुनिक समाज जीवन की विसंगतियों का चित्रण हुआ है।[8]

राजकमल चौधरी-

राजकमल चौधरी का **"भग्नस्तूप एक अक्षत स्तंभ"** नाटक असंगत नाट्य-परम्परा की दृष्टि से अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। नाटककार पाठकों और प्रेक्षकों को छूट देता है कि वे इसे नाटक मानें या न मानें। नाटक के अधिकांश पात्र नेपथ्य में ही जीते हैं और मंच पर आते-आते मर जाते हैं। शेष पात्र मंच पर रहकर भी नेपथ्य में ही रात्रि व्यतीत करते हैं। नेपथ्य यहाँ आंतरिक यथार्थ का प्रतीक है। "भग्नस्तूप" लेखक की देह के साथ-साथ 1947 के बाद के देश का भी प्रतीक है। "अक्षत स्तंभ" पूरी स्थितियों की भयावह निष्पत्ति है।[9]

बृजमोहन शाह -

बृजमोहन शाह का **"त्रिशंकु"** (1973) नाटक आधुनिक युग के भ्रष्ट, विघटित और विसंगत स्थितियों का व्यंग्यात्मक दस्तावेज हैं। प्रस्तुत नाटक में नाटककार ने शासक वर्ग के प्रतीक राजा, आई·ए·एस्·अफसर, बडे-बडे शेठ, आधुनिक राजनीतिक नेता आदि के माध्यम से अधिकार प्राप्त वर्गों की काली करतूतों पर प्रकाश डाला है। इसके साथ ही साथ डिग्रीधारी युवक के माध्यम से विश्वविद्यालय और बेकारी के बीच "त्रिशंकु" की स्थिति का संत्रास भोगने वाले आज के युवा वर्ग का भी सजीव चित्र अंकित किया है। वास्तव में "त्रिशंकु" एक प्रतीक है। उस समाज का, उस व्यक्ति का प्रतीक जो अधर में लटका है। जिसे अपने बचाव के लिए निश्चित आधार प्राप्त नहीं।[10]

बृजमोहन शाह ने अपने दूसरे नाटक **"शह ये मात"** (1975) में अतीत की असफलताओं की कुंठा, उग्र वर्तमान और अनिश्चित भविष्य में जीते मनुष्य की प्रतिक्रियाओं को प्रतीकात्मक रूप में असंगत नाट्य-शिल्प द्वारा अभिव्यक्त किया है। पूरा नाटक एक ही दृश्य-बंध पर घटित होता है। नाटक में बेतुकी बातचीत, बेतुकी स्थितियों, हास्यास्पद वातावरण, कथाहीनता और निरर्थकता के माध्यम से जीवन की असंगतियों का चित्रण हुआ है।

रमेश बक्षी -

रमेश बक्षी का **"देवयानी का कहना है"** (1972) नाटक परम्परागत सामाजिक मान्यताओं को नकारता हुआ विवाह संस्था पर एक प्रश्नचिह्न लगा देता है। विवाह संस्था की परम्परागत मान्यताएँ और आज की नयी पीढ़ी की स्वच्छन्द प्रवृत्ति पर आधारित यह नाटक परम्पराओं की पूर्ण वर्जना और कुछ भी स्थापित न करने की प्रवृत्ति की दृष्टि से असंगत नाटकों की श्रेणी में रखा जा सकता है, तथापि असंगत नाटकों की तरह इसमें कथानक और घटनाओं का पूरी तरह अभाव नहीं है। नाटक में देवयानी का चरित्र विद्रोह और उच्छृंखलता के साथ स्त्री-पुरूष के वैवाहिक संबंधों की निरर्थकता को आक्रामक ढंग से अभिव्यक्त करता है।

रमेश बक्षी का **"तीसरा हाथी"** (1975) नाटक भारतीय मध्यम वर्गीय परिवार के एक गृहपति मुरारीलाल शर्मा के परिवार का दमघोंट वातावरण प्रस्तुत करता है। नाटक का केंद्रीय पात्र पिता मंच पर न आते हुए भी पूरे नाटक पर छाया रहता है। वह मृत्यु शैया पर है और परिवार के सभी सदस्य उसकी मृत्यु की प्रतीक्षा कर रहे हैं। नाटक के अंत में न तो पिता मरते हैं, न घर की छत पर बना विशालकाय जर्जर हाथी ही

गिर पाता है। असंगत नाट्य-परम्परा के अनुरूप सारे पात्रों की कुछ घटित होने की उत्कट होती प्रतीक्षा और कुछ घटित न हो पाने की स्थिति इस नाटक में आरंभ से अंत तक बनी रहती है।

रमेश बक्षी का "**वामाचार**" नाटक पॉजिटिव और निगेटिव दो पात्रों के माध्यम से वर्तमान स्त्री-पुरुष संबंधों में बढ़ती स्वच्छन्द वृत्ति और उन्मुक्त योन संबंधों पर प्रकाश डालता है। नफरत और हिंसा से भरा निगेटिव गाली-गलौच और कड़वाहट से भरी नंगी भाषा में बोलता है तो पॉजिटिव जो भ्रष्टाचार को भ्रष्टाचार से काटना चाहता है, सफेद पोश की भाषा में बोलता है। सम्पूर्ण नाटक में आर्थिक और सामाजिक संबंधों की बिखरी, असम्बद्ध और मर्यादाहीन स्थितियों का चित्रण है। साधना की गेम दिखाते समय नाटककार ने भैरवी तंत्र की साधना का दृश्य प्रस्तुत किया है, जो समाज में व्याप्त विपरीत आचरण या "वामाचार" का नमूना प्रस्तुत करता है। रमेश बक्षी के नाटकों के बारे में डॉ॰सत्यवती त्रिपाठी ने लिखा है-"रमेश बक्षी ने अपने पहले के और समकालीन नाट्यकारों की अपेक्षा कहीं अधिक खुले और बेबाक ढंग से आधुनिक समाज की वर्जनाहीनता और उन्मुक्त योन संबंधों का चित्रण किया है। वे वर्जनाओं को तोड़ने में हिंदी नाट्यकारों में सबसे आगे दिखाई पड़ते हैं।"[11]

<u>रामेश्वर प्रेम</u> -

जीवन के अत्यंत तणावपूर्ण यथार्थ और मानवीय द्वंद को असंगत नाट्य-शिल्प द्वारा सफलता के साथ अंकित करने वाले उदीयमान नाटककारों में रामेश्वर प्रेम का स्थान अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। उनके नाटकों को हम भुवनेश्वर द्वारा प्रवर्तित असंगत नाट्य-परम्परा का पुनराविष्कार कह सकते हैं। उनका "**कैम्प**" (1983) नाटक अवैध युद्ध, शरणार्थियों की नियति, विवशता, यंत्रणामय जीवन और मानसिक संत्रास को सजीव रूप में अंकित करता है। घृणा, हताशा, हिंसा, क्रूर, आतंक की भयावह छाया, गोलियों की आवाज़ और युद्ध के कारण उत्पन्न असामान्य (Abnormal) स्थितियों में फ़ँसे हुए और असहाय जीवन-यापन करने वाले चरित्रों को यह नाटक सफलता से प्रस्तुत करता है। नाटक की रचना इस प्रकार की गई है कि वह देश, काल तथा पात्र के संज्ञा विशेष के आग्रह से सर्वथा मुक्त है।

उनका "**अजातघर**" नाटक भी डर, आतंक, आशंका और रहस्यमय वातावरण को चित्रित करता है। शहर में हुए दंगे-फसाद के दौरान नाटक के दोनों प्रमुख पात्र-प्रथम पुरुष और द्वितीय पुरुष आतंकित मनःस्थिति में एक अजातघर में पहुँचते हैं। दोनों एक-

-दूसरे से डरते हुए भी एक-दूसरे के लिए सहारा है। अजातघर का सम्पूर्ण रहस्यमय परिवेश पात्रों के मनोजगत् का ही प्रतिरूप है। यहाँ पात्रों के नाम भुवनेश्वर के नाटकों की तरह व्यक्तिवाचक संज्ञाओं के स्थान पर जातिवाचक संज्ञाओ के आधार पर रखे गये हैं। रंग-सज्जा की दृष्टि से नाटककार ने असंगत नाटकों की प्रणाली अपनाई है।

रामेश्वर प्रेम का **"चारपाई"** नाटक सामाजिक और आर्थिक दबाव के कारण बिखरकर टूटने वाले मध्यवर्गीय परिवार का दस्तावेज है। असंगत नाटकों की तरह इसमें भी सुसम्बद्ध घटनाएँ और कथानक का अभाव है। पात्रों के नाम भी जातिवाचक संज्ञाओं के आधार पर रखे गये हैं। तंग मकान में पड़ी एक चारपाई और कपड़ों के गट्ठर मध्यवर्गीय परिवार की जकड़न और पुराने मूल्यों को न बदल पाने की स्थितियों को अंकित करते हैं। नाटक के सभी पात्र परस्पर संवादहीनता की स्थिति में जीते हैं। नाटककार ने नाटक में जितना कुछ लिखा है, उससे कहीं अधिक परिस्थितियों, संकेतों, दृश्यों, कार्यों एवं व्यवहारों से प्रस्तुत किया है। भुवनेश्वर के बाद असंगत नाट्य-शैली का पूर्ण उपयोग हिन्दी में कदाचित इसी नाटक में किया गया है।

रामेश्वर प्रेम का **"अंतरंग"** (1985) नाटक अतीत के माध्यम से वर्तमान की कहानी कहता है। इसमें नाटककार ने सत्ता और जनता के बीच की खाई को उजागर करते हुए आज के जीवन के खोखलेपन को व्यक्त किया है। यह नाटक एक साथ वैयक्तिक, सामाजिक और राजनीतिक जीवन की विसंगतियों को रेखांकित करता है।

सुदर्शन मजीठिया -

अपने कथ्य, शिल्प, भाषा और प्रयोगधर्मिता के कारण ध्यान आकृष्ट करने वाले आधुनिक नाटकों में सुदर्शन मजीठिया का "चौराहा" (1986) एक महत्त्वपूर्ण नाटक है। वस्तुतः यह नाटक आधुनिक रंगमंच और लोकमंच, नुक्कड नाटक और असंगत नाटक का एक मिला-जुला रूप है। नाटक में छः व्यक्ति और एक महिला ही स्थितियों के अनुरूप विभिन्न पात्रों का रूप धारण कर लेते है। न पात्रों का यहाँ कोई परम्परागत रूप है न कथानक जैसी चीज; बल्कि कथाहीनता, बदलती हुई परिस्थितियों-दृश्यों-संदर्भों और उनमें जोकर की रचनात्मक भूमिका के द्वारा नाटक विकसित किया गया है। नाटक सारे देश और समाज के उस चौराहे पर खड़ा दिखता है जहाँ दिशाहीनता, गतिहीनता, भ्रष्टाचार, चारित्रिक पतन तो है ही - सबसे अधिक भयानक स्थिति है हम सबका एक अनिश्चयात्मक मनःस्थिति के दबाव में चलना और इस तरह एक अभिशप्त नियति और संदिग्धता से गहराते कोहरे में से गुजरते जाना। पुराने विश्वासों और नये वैज्ञानिक अविष्कारों, बेकारी,

रिश्वतखोरी, आर्थिक संकट, प्रामाणिकता के अभाव में, आजाद भारत में निरन्तर हस्तक्षेप करते राजनीतिक हथकण्डों ने मनुष्य को मात्र एक पदार्थ बना दिया है- इस कथ्य को नाटककार ने यहाँ असंगत शैली के माध्यम से प्रस्तुत किया है। संक्षेप में "चौराहा" लचीला, व्यंजनापूर्ण तेज गति और मूल्यों के अन्वेषण का नाटक है।[12]

हमीदुल्ला -

हमीदुल्ला के **"उलझी आकृतियाँ"** (1973) नाट्य-संग्रह के तीनों नाटक-"समय संदर्भ", "एक और युद्ध" तथा "उलझी आकृतियाँ" वैज्ञानिक उपलब्धियों के अभिशाप, जीवन के सभी क्षेत्रों में व्याप्त भ्रष्टाचार एवं समसामयिक युग के मानवीय मूल्यों के विघटन को प्रस्तुत करते हैं। संग्रह का प्रथम नाटक **"समय संदर्भ"** मानव के सृजन की उपयोगिता पर ही प्रश्नचिह्न लगाता है। इस दृष्टि से मानव वैज्ञानिक बोस का कथन दृष्टव्य है- "मशीनी मानव, मशीनी मानव, मशीनी मानव। तंग आ गया हूँ सुनते-सुनते। मैं नहीं जानता था कि आदमी का यह निर्माण एक दिन खुद उसे बेवकूफ बना देगा।"[13] नाटक के संवाद हमारे जीवन के खोखलेपन को बड़ी सशक्त भाषा में प्रस्तुत करते हैं।

संग्रह का दूसरा नाटक **"एक और युद्ध"** वर्तमान जीवन में व्याप्त समस्याओं को उसके सम्पूर्ण परिवेश के साथ अभिव्यक्त करता है। असंगत नाट्य-शैली में लिखे गये इस नाटक में न तो पात्रों का कोई नामकरण है और न ही कोई सुसम्बद्ध कथानक। हमारे चारों ओर मंडराती आकृतियों और आवाज़ों को पात्रों का प्रतीकात्मक रूप दिया गया है और घटनाओं का "कटपीस" की तरह प्रयोग किया गया है। नाटककार को वर्तमान युग के विसंगत परिवेश को अभिव्यक्ति देने में पूर्ण सफलता मिली है।[14]

संग्रह का तीसरा नाटक **"उलझी आकृतियाँ"** सरकारी कर्मचारियों की निष्क्रियता, रिश्वतखोरी, अवसरवादिता और विघटित नैतिक मूल्यों का करूण दस्तावेज है। दो अंकों में बँटे इस नाटक के संवाद संक्षिप्त चुश्त, प्रभावकारी और समसामयिक युग को उसकी अव्यवस्था, विसंगत परिवेश और अमानवीय नीति के साथ मूर्त करने में सक्षम है।

हमीदुल्ला का दूसरा नाट्य-संग्रह **"दरिंदे"** (1975) वर्तमान जीवन में जी रहे व्यक्ति के विघटित जीवन-मूल्यों, विसंगत परिवेश और समाजव्यापी भ्रष्टाचार को अभिव्यक्त करता है। इस संग्रह में कुल चार नाटक हैं-**"दरिंदे"**, **"घरबन्द"**, **"दूसरा पक्ष"** और **"अपना-अपना दर्द"**। इन नाटकों में सत्ता और शासन-व्यवस्था के काले कारनामों, नेताओं द्वारा अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए चलाई जाने वाली देशव्यापी हड़तालों, अभिजात वर्ग की मनमानी हरकतों, माता-पिता की सन्तान के प्रति हृदय-हीनता तथा आज के समाज

की स्वार्थपूर्णता और अवसरवादिता का चित्रण किया गया है। वर्तमान परिवेश की विसंगतियाँ और उनके संघर्ष में टूटता एकाकी मनुष्य ही इनका केंद्रबिन्दु है। असंगत नाट्य-शिल्प द्वारा नाटककार ने इसे सजीव रूप में अंकित किया है।

शांति मेहरोत्रा -

शांति मेहरोत्रा के "**एक और दिन**" और "**ठहरा हुआ पानी**" भी असंगत नाट्य-परम्परा में रखे जा सकते हैं। इन नाटकों में आधुनिक समाज जीवन में दिखाई देने वाली संबंधहीनता, अजनबीपन, बदलते सामाजिक एवं नैतिक मूल्य, स्त्री-पुरूष संबंधों की जटिलता और नारी अस्तित्त्व से सम्बद्ध अनेक प्रश्नों को द्वंद्वात्मक एवं प्रभावशाली ढंग से अभिव्यक्त किया गया है। शांति मेहरोत्रा की मौलिकता पारिवारिक विघटन और उसके बीच जीवित--अभिशापित चरित्रों, मानवीय विसंगति के मूर्तिमान रूप पात्रों को गढ़ना और उन्हें पूरी-पूरी जीवन्तता से प्रतिष्ठित करना है।[15]

अन्य नाटककार -

उपर्युक्त नाटककारों के नाटकों के अतिरिक्त हिन्दी में और भी ऐसे अनेक नाटककार हैं, जिन्होंने असंगत नाट्य परम्परा में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। इनमें उल्लेखनीय असंगत नाटककार और उनके असंगत नाटक इस प्रकार हैं- सुदर्शन चोपड़ा (अपनी पहचान), रमाशंकर निलेश (चील घर), चंद्रशेखर (कटा नाखून) और डॉ॰ चंद्र (कुत्ते) आदि।

मुद्राराक्षस और उनके असंगत नाटक :

पिछले कुछ वर्षों में जिन नाटककारों ने अपनी मौलिक प्रतिभा के बल पर साहित्य और रंगमंच में क्रांतिकारी स्थितियाँ उत्पन्न की हैं, उनमें मुद्राराक्षस का नाम अग्रगण्य है। मुद्राराक्षस बहुमुखी प्रतिभा सम्पन्न कलाकार है। नाटक और रंगमंच के अतिरिक्त उन्होंने साहित्य के अन्य अंगों - उपन्यास, कहानी, कविता, साहित्यिक आलोचना आदि में भी अपना मौलिक योगदान दिया है। उनके व्यक्तित्त्व और कृतित्त्व का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है -

-:- व्यक्तित्त्व -:-

मुद्राराक्षस का जन्म 21 जून 1931 ईस्वी में बेहटा गाँव, लखनऊ में हुआ। "मुद्राराक्षस" इनका उपनाम मात्र है। इनका असली नाम "सुभाषचंद्र आर्य" है। लेकिन साहित्य की चकाचौंध में उनका असली नाम लुप्त हो गया है। आजकल "मुद्राराक्षस" के नाम से ही इन्हें जाना जाता है। इनके पिता का नाम शिवचरणलाल है। उत्तर-प्रदेश की लुप्तप्राय प्राचीन लोक-नाट्य-परम्परा, स्वाँग के एकमात्र जीवित वयोवृद्ध गायक, अभिनेता

और निर्देशक अपने पिता श्री शिवचरणलाल से ही इन्हें संगीत निर्भर रंगमंच की प्रेरणा मिली। लखनऊ विश्वविद्यालय से इन्होंने एम्.ए.की डिग्री हासिल की है। इन्होंने अपने साहित्यिक जीवन का आरंभ पत्रकारिता से किया। वे अपने जीवन में मजदूर आंदोलन से भी जुड़े रहे। यद्यपि उन पर मार्क्सवाद का गहरा प्रभाव रहा है, फिर भी यूनियन कार्य ने उन्हें यांत्रिक मार्क्सवादी होने से बचाया इसमें भी शक नहीं। यूनियन का कार्य करते समय ऐसी अनेक स्थितियों और घटनाओं से इन्हें गुजरना पड़ा, जिसमें इन्हें जीवन की सघन अनुभूति प्राप्त हुई। स्वयं मुद्राराक्षस ने भी स्वीकार किया है कि जो सत्य उन्हें मजदूर आंदोलन से मिला उसने उनके लेखन को भाषा दी है।[16]

मुद्राराक्षस ने अपने जीवन में कई जगह नौकरियाँ कीं, पर हमेशा वे साहित्य से जुड़े रहे। नौकरी करते हुए कई पत्र-पत्रिकाओं में स्वतंत्र रूप में लेखन और संपादन का कार्य भी करते रहे। कलकत्ता के "ज्ञानोदय" पत्रिका के वे सम्पादक रह चुके हैं। इसके अतिरिक्त "अणुव्रत", "जीरो" (अंग्रेजी साप्ताहिक), "साहित्य बुलेटिन" तथा "बेहतर" का इन्होंने संपादन किया है। 1963 में ऑल इंडिया रेडियो नई दिल्ली से वे संलग्न हुए। साथ ही 1968 में वे आखिल भारतीय आकाशवाणी कर्मचारी महासंघ के अध्यक्ष बने। पर 1976 में उन्होंने आकाशवाणी में संपादक (नाटक) के पद से इस्तीफा दे दिया। इसके अतिरिक्त वे सोसायटी आफ सेल्यूलायड आर्टस् लखनऊ के अध्यक्ष, संस्कृति रंगमंडली के निदेशक एवं नाट्यकला में राष्ट्रीय फेलो भी रह चुके हैं। वे अच्छे अभिनेता और निर्देशक भी हैं। अनेक नाटकों के निर्देशक और रंग-शिविरों के संचालक के रूप में उन्हें ख्याति प्राप्त है। "सर्वेश्वर दयाल सक्सेना कृत लंबी कविता "कुआनो नदी" पर आधारित रंग-प्रस्तुति में निर्देशक मुद्राराक्षस को काफी सफलता मिली थी।"[17] इन्होंने अपने कुछ नाटकों का मंचन भी सफलता के साथ किया है। रंगमंच के क्षेत्र में इनकी पत्नी (नायिका इंदिरा) का भी इन्हें काफी सहयोग प्राप्त हुआ है। बिना किसी पेशेवर मंच– तकनीशियन की मदद के निर्देशक मुद्राराक्षस और उनकी पत्नी इंदिरा द्वारा अप्रैल 1966 में प्रस्तुत किया गया "**मरजीवा**" नाटक इसका परिचायक है।

मुद्राराक्षस का स्वभाव घुमक्कड और अध्ययनशील रहा है। प्राचीन संस्कृत साहित्य से लेकर आधुनिक पाश्चात्य साहित्य तक का ज्ञान इन्होंने अपनी अध्ययनशीलता के बल पर हासिल किया है। इनके नाटकों की लंबी-चौड़ी भूमिकाएँ इनके संस्कृत और पाचात्य अंग्रेजी साहित्य के सूक्ष्म एवं गहन ज्ञान की परिचायक है। देश की आम जनता-जो शोषण की चक्की में अनादि-अनंत काल से पीसती आयी है और जिसे अपने शोषण का एहसास

तक नहीं है-से मुद्राराक्षस को अत्यधिक प्रेम और सहानुभूति है। अपने साहित्य के माध्यम से इन्होंने हमेशा आम आदमी से जुड़ने की कोशिश की है। मार्क्सवादी होने के नाते इनके साहित्य में शोषक और शोषित के बीच का संघर्ष और शोषकों द्वारा शोषितों का होने वाला सामाजिक-आर्थिक शोषण तथा उन पर किये जाने वाले जुल्म और अत्याचार का वर्णन जगह-जगह पाया जाता है।

मुद्राराक्षस के साहित्य के संबंध में एक आम शिकायत है कि आम आदमी से जुड़ने की बात करने वाला यह नाटककार अपने नाटकों में कहीं भी आदमी आम से जुड़ नहीं पाता। वस्तुतः यह अर्धसत्य है। हाँ, यह सही है कि अपनी दुर्बोध प्रतीक-योजना और काव्य-बिम्बों के प्रयोग करने की प्रवृत्ति तथा भाषा में अंग्रेजी का अत्यधिक प्रयोग के कारण उनके नाटक सामान्य लोग समझ नहीं पाते और उनके नाटक एक विशिष्ट वर्ग तक ही सीमित रहते हैं, पर यह भी सही है कि उनके नाटकों में आम आदमी के जीवन की समस्याएँ, उनकी परवशता, निष्क्रियता और यंत्रणामय जीवन की स्थिति पूरी सक्षमता से उभरी है। सामान्य लोग तो आये दिन इन समस्याओं के बीच घिरे रहते हैं, पर उच्च वर्ग के सुविधाभोगी लोग इन समस्याओं से परिचित भी नहीं है। उन्हें इस बात का एहसास तक नहीं है कि वे किसी पर जुल्म कर रहे हैं। कम से कम मुद्राराक्षस के नाटकों के जरिए उन्हें इस बात का एहसास तो हो ही जाता है। और इस आधार पर हम निश्चित रूप से कह सकते है कि यद्यपि मुद्राराक्षस के नाटक समझना आम आदमी के लिए कठिन है, फिर भी वे आम आदमी से जुड़ नहीं पाते यह कहना उनके साथ सरासर अन्याय करना होगा। इस बात को स्वीकार करते हुए डॉ·जयदेव तनेजा ने कहा है- "तथाकथित आभिजात्य और पढ़े-लिखे संस्कारी दर्शक-पाठक से अलग हटकर आम आदमी के लिए आम आदमी का नाटक पेश करने की दिशा में ईमानदारी से हिन्दी में जो कुछ हुआ है उसमे मुद्राराक्षस का विशिष्ट एवं महत्त्वपूर्ण स्थान है।"[18]

-:- कृतित्त्व -:-

अपने बहुमुखी लेखन के लिए प्रसिद्ध मुद्राराक्षस ने साहित्य के लगभग सभी क्षेत्रों -उपन्यास, कहानी, कविता, नाटक, सामाजिक इतिहास, साहित्यिक आलोचना, रेडियो नाटक- में अपनी लेखनी का कमाल दिखाया है। उनके प्रसिद्ध और बहुचर्चित पुस्तकों का ब्योरा इस प्रकार है-

उपन्यास - 1·मेडेलीन 2·अचला:एक मनःस्थिति 3·भगोड़ा 4·हम सब मंसाराम
5·शोक संवाद 6·मेरा नाम तेरा नाम 7·शांतिभंग आदि।

नाटक - 1·मरजीवा 2·योर्स फेथफुली 3·तिलचट्टा 4·तेन्दुआ 5·गुफायें 6·सन्तोला 7·आला अफसर 8·डाकू 9·मालविकाग्निमित्र और हम।

साहित्यिक आलोचना- 1· साहित्य समीक्षा, परिभाषाएँ और समस्याएँ।

कहानी संग्रह - 1·शब्द दंश।

रेडियो नाटक - 1·काला आदमी 2·उसका अजनबी 3·लाइहरोबा 4·सन्तोला 5·उसकी जुराब 6·काले सूरज की शव यात्रा 7·विद्रूप और 8·अनुत्तरीत प्रश्न।

इन प्रमुख किताबों के अलावा कुछ छोटी अ-महत्त्वपूर्ण किताबे भी हैं, जिनसे उनके विपुल एवं बहुमुखी लेखन का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। यद्यपि मुद्राराक्षस ने साहित्य की विभिन्न विधाओं में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है, फिर भी उनकी प्रसिद्धि मुख्यतः उनके नाटकों के कारण हुई है। नाटक और रंगमंच के क्षेत्र में पूरी लगन और तन्मयता के साथ समर्पित होकर काम करने वाले हिन्दी के गिने-चुने नाटककारों में मुद्राराक्षसजी उल्लेखनीय है। वे एक साथ नाटककार, अभिनेता और रंग-निर्देशक है। भुवनेश्वर प्रसार द्वारा प्रवर्तित और डॉ·विपिनकुमार अग्रवाल द्वारा पोषित असंगत नाट्य-परम्परा के हिन्दी नाट्य क्षेत्र में सही माने में पुनःप्रतिष्ठित करने का महत्त्वपूर्ण कार्य मुद्राराक्षस ने किया है।

"आधुनिक हिन्दी नाटककारों में मुद्राराक्षस की अपनी विशिष्ट भंगिमा है। वे एक साथ प्रकृतवाद, अभिव्यंजनावाद, थियेटर ऑफ क्रूयेल्टी और एब्सर्ड नाट्य परम्परा से इस कदर प्रभावित दिखाई देते हैं कि सबका एक मिला-जुला रूप उन्हें औरों से अलग ला खड़ा कर देता है। हिंसा, सेक्स, आदिम मानवीय प्रवृत्तियों के प्रति लगाव, आक्रामक स्थितियाँ, उत्पीड़न, सत्ता के प्रति आक्रोश तथा मृत्युबोध, उनके प्रिय विषय कहे जा सकते हैं। साथ ही जीवन और जगत् की विसंगतियों को वे ऐसी स्वर कल्पना के साथ रूपायित करते हैं जो सनकीपन, अतिरंजना, फंतासी और फार्स के मिले-जुले अनुभवों से पोषित लगती है।"[19]

मुद्राराक्षस ने अपने सभी नाटकों में असंगत नाट्य शैली और तकनीक का भरपूर उपयोग किया है। उनके नाटकों की भावभूमि, राजनीतिक, सामाजिक, व्यक्तिवादी तथा मनोवैज्ञानिक है, किन्तु उन्होंने पाश्चात्य असंगत नाट्य परम्परा से इतना अधिक प्रभाव ग्रहण किया है कि उनके नाटकों की चर्चा असंगत नाट्य परम्परा से अलग रखकर नहीं की जा सकती। यद्यपि उनके सभी नाटकों में मानव जीवन की विसंगति के तत्त्व कम-

-अधिक मात्रा में पाये जाते है, फिर भी सही अर्थों में उनके असंगत नाटक चार ही है- 1·मरजीवा 2·योर्स फेथफुली 3·तिलचट्टा और 4·तेन्दुआ। इन चार नाटकों के अतिरिक्त उनके और दो नाटक-"सन्तोला" और "गुफाएँ" भी असंगत नाटक कहे जा सकते है। शेष नाटक यथार्थवादी हैं।[20]

गौण असंगत नाटक

सन्तोला -

मुद्राराक्षस का नया नाटक "सन्तोला" वास्तव में "सन्तोला : एक छिपकली" नामक उनके रेडियो नाटक का मंचीय रूप ही है।[21] सन 1972 में रेडियो पर प्रसारित यह नाटक रंगमंचीय नाटक के रूप में 1980 में प्रकाशित हुआ। मुद्राराक्षस के इस नाटक में भी उनके अन्य नाटकों की तरह योन-अतृप्ति जनित कुंठाएँ, अमानवीयता, वहशीपन, क्रूरता, प्रतीक स्तर पर छिपकली, घड़ियों और टार्च का प्रयोग, संतोला और सरन की विकृतिजनक हरकतें, सीलन, अंधेरे और बदबू से भरा वातावरण आदि अपने चालू फार्मूलों, मसालों के साथ मोजूद हैं।[22]

डॉ·जयभगवान गुप्ता के अनुसार "संतोला" में मुद्राराक्षस ने ऐसे तीन व्यक्तियों की मानसिकता का चित्रण किया है जो एक पहाड़ी इलाके में उत्खनन के लिए जाते हैं। और भूस्खलन के कारण एक गुफा में बंद हो जाते हैं। धीरे-धीरे उनका खाना-पीना खत्म हो जाता है, टार्च की रोशनी खत्म हो जाती है, घड़ियों में समय रूक जाता है और उनका इतिहास भी ठहर जाता है। वे धीरे-धीरे मरते हैं एक गहरे अंधेरे और कालहीन शून्य में। इस स्थिति में उनकी संवेदनाएँ विकृत हो जाती है और उनके मानसिक चित्र आतंकमय हो उठते हैं। आदमी के अन्तर्मन की तस्वीरों, वासनाओं तथा उसमें छिपे हिंसक पशु का चित्रण बहुत ही सशक्त रूप से प्रस्तुत किया गया है।[23]

दो अंको में विभाजित यह नाटक पहाडी इलाक़ा, भुवन के मकान का कमरा तथा अंधेरी गुफा के तीन दृश्य-बंधों पर अभिनीत होने वाला एक अस्तित्ववादी चिंता का नाटक है। नाटक में भुवन-संतोला प्रसंग को पूर्वदीप्ति के रूप में पेश किया गया है। भुवन और संतोला पति-पत्नी है। उन्होंने एक-दूसरे को इतना जान लिया है कि परस्पर अजनबी हो गए हैं। दोनों की देह के बीच का रिश्ता इस अति परिचय और घनिष्ठता के कारण जमकर बर्फ हो गया है। स्थिति यहाँ तक बिगड़ जाती है कि भुवन को पति रूप में बर्दाश्त करना संतोला के लिए असंभव बन जाता है। वह युवा सहयोगी सुखबीर और प्रो·सरन के बीच चुनाव के प्रश्न पर द्वंदग्रस्त है। भय, आतंक और रहस्यपूर्ण

वातावरण के निर्माण में नाटककार को सफलता मिली है।

गुफायें -

मुद्राराक्षस के "गुफायें" (1979) नाटक में भी असंगत नाट्य शिल्प के दर्शन होते हैं। डॉ॰श्रीमती गिरीश रस्तोगी के अनुसार "गुफायें" उनके पूर्व नाटकों की तुलना में ज्यादा प्रभावशाली नाटक है। यद्यपि इसकी मुख्य जमीन भी भय, हिंसा, क्रूरता, घृणा, वितृष्णा, मानवीय शून्यता, तेज लय की है और सभी नाटको की तरह यहाँ भी मूल में काम सम्बन्ध, यौन विकृतियाँ और उनसे पैदा हुई असामान्यता कुंठा आदि हैं, नया कुछ भी नहीं है लेकिन पूरे नाटक की संरचना में उतनी एकरसता, ठंडापन नहीं है और न ही प्रतीकों, संकेतों का ठहरापन। प्रयोग की प्रवृत्ति यहाँ भी है और यह प्रयोग रचना पर हावी न होकर अभिनय, रंगमंच और प्रस्तुति की संभावनाओं को सांकेतिक सूक्ष्म स्तर पर खोलता है।[24]

डॉ॰दशरथ ओझा के अनुसार- "इस नाटक में कालेधन के संचय से एक ओर आधुनिक उद्योगपति की पारिवारिक अशांति, जीवन की विसंगति एवं आंतरिक द्वंद दिखाया गया है और दूसरी ओर न्यूनतम प्रयास के द्वारा शीघ्रातिशीघ्र सम्पत्तिशाली बनने की कामना से उद्वेलित एक किशोरी अपहर्ता उचक्के चोर का समाज से संघर्ष प्रस्तुत किया गया है। लिली का पिता उद्योगपति वर्ग का और अनन्त अपहर्ता वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं।[25]

"गुफायें" के संवादों में पात्रों के अन्तर्विरोध और कुछ नाटककार की चमत्कार की भावना के कारण अप्रत्याशितता का अंश अधिक है। अनन्त को जब खूंख्वार होना चाहिए था तब वह कहता है, "अब तो मुझे तुम पर रहम आने लगा है" और जब लिली रहम के लिए अनुयय-विनय करती है तो वह उसकी उँगली काट डालता है। एक अवसर पर वह उससे कहता है, "चली जा नहीं तो मैं जबरदस्ती कर बैठूँगा" और दूसरे ही क्षण "तू मुझसे ब्याह करेगी" का प्रस्ताव रखता है। स्वयं लिली जबरदस्ती से बचना चाहती है, फिर भी उसके सारे संवाद जबरदस्ती की जाय, इस संकेत को उभारते हैं और इसके साथ ही वह जबरदस्ती भी चाहती है: "तुम जबरदस्ती करोगे तो क्या मैं रोक पाऊंगी ? क्यों नहीं की तुमने जबरदस्ती··?" इस प्रकार के संवाद कुछ जागतिक व्यवहार से भिन्न और हटकर लगते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि लेखक स्वयं एक प्रकार की उभयमुखता पैदा करना चाहता है।[26]

प्रमुख असंगत नाटक

मरजीवा -

मुद्राराक्षस का "मरजीवा" नाटक यद्यपि पुस्तक रूप में 1974 में प्रकाशित हुआ, पर उसके पहले 1966 ई·मे·स्वयं मुद्राराक्षस द्वारा यह मंचित हुआ था और उससे भी पहले 1960 ई·में·(लेखक के)कथनानुसार वह लिखा गया था।[27] "मरजीवा" नाटक हमारे वर्तमान सामाजिक-राजनैतिक जीवन में चारों तरफ व्याप्त भ्रष्टाचार, बेइमानी तथा सत्ता प्राप्ति के लिए की जाने वाली अंधी दौड का पर्दाफाश करने के साथ-साथ इन विसंगत और दमघोंट परिस्थितियों में जीने के लिए विवश बेकार, बेरोजगार और स्वाभिमानी युवावर्ग की यातनाओं का सजीव अंकन करता है।

"मरजीवा" आदर्श और भूमि इन दो दम्पत्तियों की यातना, संत्रास, हताशा, मूल्यहीनता, आक्रोश एवं मानसिक संघर्ष की कहानी है। पूरे नाटक में उनके इसी तनाव, जीने के मोह और न जी पाने·की छटपटाहट की अभिव्यक्ति हुई है। इससे बड़ी विडम्बना क्या होगी कि आदमी मनचाहे ढंग से जी भी नहीं सकता और मर भी नहीं सकता। नाटक के मुख्य पात्र आदर्श और भूमि आज के बुद्धिजीवी युवावर्ग के प्रतीक हैं, जो परिवेश की विसंगतियों से समझोता नहीं कर सकते और अन्ततः व्यवस्था के हथकण्डों का शिकार बन जाते हैं।

आदर्श एक शिक्षित परन्तु बेकार नवयुवक है। उसकी पत्नी भूमि भी एक पढ़ी-लिखी और सुन्दर स्त्री है। भूमि की सुन्दरता पर लुब्ध मंत्री शिवराज गन्धे उसे नौकरी दिलाने की बात कहकर अपने बंगले पर बुलाता है। परिस्थितियों के चक्रव्यूह में फँसकर चारों ओर से निराश और हताश बना आदर्श नींद की गोलियों द्वारा अपने पिता और पत्नी के साथ आत्महत्या करने का निश्चय करता है। पर इन गोलियों से केवल पिता की मृत्यु होती है। फिर वह प्लास्टिक की थैली मुँह पर बाँधकर अपनी पत्नी भूमि की हत्या करता हे और स्वयं भी बिजली के तार से खुदकुशी करने का प्रयास करता है किन्तु फ्यूज उड़ जाने से वह बच जाता है। वह फाँसी की सजा पाकर इस तनाव से छुटकारा पाना चाहता हे और इसलिए पिता व पत्नी की हत्या की रिपोर्ट दर्ज करवाने थाने पहुँचता है। उसी समय मंत्री पद से निष्कासित शिवराज गन्धे भी वहाँ आता है। गन्धे विरोधी दल के अपने राजनीतिक प्रतिद्वंदी पारस को बदनाम और अपदस्थ करने के लिए आदर्श का उपयोग करने की योजना बनाता है। इस योजना के अनुसार पुलिस अफसर और शिवराज गन्धे आदर्श से अपने ऊपर पेट्रोल छिड़ककर "पारस मुर्दाबाद" के नारे लगाते

हुए आत्मदाह करने का आग्रह करते हैं। जब आदर्श इसके लिए तैयार नहीं होता, तो वे लोग आदर्श के शरीर पर जबरदस्ती पेट्रोल छिड़ककर उसे जिन्दा जला देते हैं। कुल मिलाकर नाटक का यह कथ्य हमारे सामने ऐसा भयानक, करूण और भ्रष्ट परिवेश खड़ा करता है, जहाँ शिक्षित और स्वाभिमानी युवावर्ग के सामने जीने के सब मार्ग अवरूद्ध हैं।

पाँच अंकों में विभाजित इस नाटक के प्रथम तीन अको का स्थान भूमि का कमरा है और अन्तिम दो का क्रमशः पुलिस स्टेशन और पार्क। नाटक में भूमि, आदर्श आदि पात्रों के नाम प्रतीकात्मक शैली में रखे गये हैं। नाटक में हताश, असहाय और विवश पात्रों की टूटन का सजीव चित्रण हुआ है। गन्धे द्वारा की गई आदर्श की हत्या वास्तव में आदर्श की हत्या न होकर मानवीय आदर्श की हत्या है। नाटक के अन्य पात्र व्यवस्था के विभिन्न पक्षों में व्याप्त भ्रष्टाचार, अनैतिकता और शोषण की वृत्ति को उजागर करते हैं। नाटक में मुख्य समस्या सेक्स से संबंधित है और इसी के माध्यम से सुविधाभोगी अधिकारियों की मनोवृत्ति पर प्रकाश डाला गया है। संक्षेप में मुद्राराक्षस का यह नाटक असंगत नाट्य-परम्परा में एक विचारोत्तेजक, साहसिक और प्रयोगात्मक नाटक होने के साथ-साथ हिन्दी में नये नाटकों का श्रीगणेश माना जा सकता है।

<u>योर्स फेथफुली</u> -

मुद्राराक्षस का असंगत नाट्य लेखन सही अर्थो में **"योर्स फेथफुली"** (1974) से प्रारंभ होता है। इस नाटक में फेंटेसी के साथ-साथ असंगत नाट्य शैली का आद्यन्त प्रयोग किया गया है। 1968 में केंद्रीय सरकारी कर्मचारियों द्वारा की गई हड़ताल के साथ जुड़ी घटनाओं ने इस नाटक को जन्म दिया। व्यवस्था की यांत्रिकता और सरकारी कर्मचारियों की विवशता के बीच आन्दोलन प्रवृत्ति के जागरण का स्वर इसका मूल कथ्य है। यह नाटक शोषण की व्यवस्था के विरोध के साथ-साथ मानवीय यंत्रणा, भय, आशंका, मौत एवं वर्तमान जीवन की अनेक विसंगत स्थितियों को एक साथ उजागर करता है। वर्तमान परिवेश की विसंगत परिस्थितियों में सरकारी कार्यालयों की यांत्रिकता, विकृत संहिताएँ, अफसरों की यौन-विकृति और भ्रष्टाचार के बीच पीसा जा रहा सामान्य मनुष्य अपनी पहचान खो चुका है। इसी बात को नाटककार ने **"योर्स फेथफुली"** में अफसर, तीन क्लर्क, डिस्पैचर, स्टेनो कंचन रूपा और चपरासी के चरित्र तथा उनकी गतिविधियों के माध्यम से प्रस्तुत किया है।

अंक और दृश्य-विभाजन से मुक्त इस नाटक में एक ऐसे सरकारी कार्यालय का दृश्य है, जिसके कर्मचारी निराश, हताश, विवश एवं हारे हुए हैं। कार्यालय के बाहर अपनी माँगो के लिए पुलिस के साथ जूझते जुलूस की प्रतिध्वनि इस नाटक की पृष्ठभूमि का काम करती है। नारे लगाने वाले इन हड़तालियों पर पुलिस लाठी चार्ज करती हैं, आँसू गैस छोड़ती हैं और गोली भी चलाती है। कार्यालय के नियमों के अनुसार दफ्तर के कर्मचारी इस हड़ताल में हिस्सा नहीं ले सकते। यदि वे हिस्सा लेते हैं तो उन पर अनुशासनात्मक कार्यवाही होने का डर है। हड़ताल के कारण उनको छुट्टी भी नहीं मिल सकती। ऐसे में कार्यालय का अफसर अपने कमरे में स्टेनो कंचन रूपा के साथ संभोग करने में व्यस्त है। दफ्तर के कर्मचारी-जिसमें क्लर्क तीन भी है, और जो शायद कंचन रूपा का पति है-चाबी के सुराख से अफसर का यह कार्य देखते हैं, पर किसी में भी विरोध करने की शक्ति नहीं है। व्यवस्था ने उनके हाथ पहले ही काट दिये हैं। क्लर्क तीन ने कंचन रूपा के साथ अपने संबंध छुपाकर रखे हैं, क्योंकि सरकारी संहिता के अनुसार पति-पत्नी एक ही दफ्तर में काम नहीं कर सकते। नौकरी की पराधीनता और हर दिन की यातनाएँ कंचना रूपा को भीतरी तौर पर आत्महत्या करने के लिए बाध्य करती है।

कंचन रूपा जीते हुए भी मर गई है। उसकी स्थिति बिल्कुल मरी हुई लड़की जैसी है जो न कुछ कह सकती है, न ही कोई प्रतिवाद कर सकती है। कंचन रूपा की इस मृत्यु पर दफ्तरी संहिता के अनुसार शोक-सभा का आयोजन होता है। स्वयं कंचन रूपा भी उस शोक सभा में सम्मिलित होना चाहती है, पर दफ्तरी कानून के कारण उसे अपनी शोकसभा में सम्मिलित होने की अनुमति नहीं मिलती। आखिर अनुशासन का डर दिखाकर और मरी हुई लड़की विरोध नहीं करती[28] यह कहकर अफसर मरी हुई स्टेनो कंचन रूपा के साथ संभोग करता है। चपरासी को उसके इस कार्य से मितली आने लगती है। क्लर्क तीन अफसर की इस पशु वृत्ति को न तो सह सकता है और न ही उसका विरोध कर सकता है। परिणामस्वरूप चारों ओर से निराश होकर वह अपने गले में रस्सी बाँधकर वहीं दफ्तर में खुदकुशी कर लेता है। कंचन रूपा की तरह मरे हुए दफ्तर के सारे कर्मचारी निर्जीव-से यह दृश्य देखते रहते हैं। कोई कुछ नहीं कर सकता, क्योंकि वे जानते है कि उन्हें सिर्फ अफसर के हुक्म पर चलना है। डिस्पैचर का अनुभव है कि सरकार जब अपाइंटमेंट लैटर देती है तो ऊपर "डियर सर" और नीचे "योर्स फेथफुली" लिखती है, लेकिन उसके बाद फिर सरकार या तो इत्तला देती है या फिर केवल हुक्म देती है और नीचे "योर्स सिंसियरली" नहीं, बस दस्तखत होता है।[29]

कुल मिलाकर यह नाटक सरकारी कार्यालयों के भ्रष्ट, अमानवीय और यांत्रिक वातावरण और उसमें घुटते पंगु जीवन बिताने वाले सरकारी कर्मचारियों की पीड़ा, संत्रास, घुटन और विवशता को व्यंग्यात्मक रूप में प्रस्तुत करता है। नाटक के संवाद आंतरिक अर्थ की व्यंग्यात्मकता और मार्मिकता से वर्तमान परिवेशजन्य विसंगतियों पर तीखा प्रहार करते हैं। डॉ॰गिरीश रस्तोगी के अनुसार यह नाटक अपने में तेज, मार्मिक और सहज है और अपने शिल्प में नया होते हुए भी कोरा चमत्कारवादी नहीं है।[30]

तिलचट्टा -

आधुनिक संदर्भ में काम सम्बन्धो को परिभाषित करने वाला मुद्राराक्षस का "तिलचट्टा" (1973) नाटक उनके रेडियो-नाटक "काला आदमी" से विकसित "काक्रोच" कहानी का नाट्य-रूपांतर है। देव और केशी के माध्यम से आज के विघटित सेक्स को रूपायित करना ही नाटक का कथ्य है। मुद्राराक्षस के अनुसार "तिलचट्टा" मानवीय नियति की एक ऐसी त्रासदी है जिसे निरन्तर अपने मानवीय ऐतिहासिक आधार की तलाश है। नाटक में चरित्र नहीं यह त्रासदी ही प्रमुख है, सत्य है।··प्रारंभ से अंत तक यह त्रासदी ही है जो लगातार मंच पर रहती है। बाकी सबकुछ पात्र, प्रतीक, देश, काल, घटनाएँ सब सिर्फ उसकी वहीं मोजूदगी को प्रामाणिकता देने वाले दस्तावेज हैं।[31]

नाटक का प्रारम्भ एक बेडरूम में बड़े आकार के पलंग पर लेटे देव और केशी के वार्तालाप से होता है। देव अस्पताल में नर्स के रूप में काम करने वाली अपनी पत्नी केशी के चरित्र पर संदेह करता है। बकरे की बोली बोलने वाले काले आदमी और अस्पताल के डॉक्टर को लेकर देव तरह-तरह की बातें सोचता है। देव पुंसत्त्वहीन पुरूष है और इसलिए वह सोचता है कि केशी के गर्भ में डॉक्टर का बच्चा बढ़ रहा है। देव के कुत्ते का काले आदमी को देखकर भौंकना और काले आदमी द्वारा केशी का पीछा किये जाना भी देव के मन में शक पैदा करता है। वस्तुतः "आज की नारी भी वह नारी नहीं रही जो पुंसत्वहीन पुरूष को पति रूप में पाकर भी सती बनी रहती है और सेक्स की यातना को किन्हीं अन्य माध्यमों से अपनी इच्छाओं का दमन कर झेल लेती है।"[32]

देव और केशी दोनों भी अपनी-अपनी यौन-कुंठाओं में घुट रहे हैं। उनकी जिन्दगी एकरस और यांत्रिक बन गई है। इन दोनों पात्रों की दमित और कुंठित भावनाएँ स्वप्न-दृश्यों के माध्यम से नाटक में दिखाई गई है। देव स्वप्न में देखता है कि वह केशी के साथ एक घने जंगल में भटक गया है, जहाँ कोई केशी की साड़ी और ब्लाउज खींच रहा है और अंत में केशी भी कहीं गायब हो जाती है। उसके बाद दो पिण्डारी देव का गला

घोंटने का प्रयास करते है और यहीं स्वप्न टूट जाता है। केशी अपने स्वप्न में देखती है कि उसे कुत्ते के पिल्ले सदृश्य बच्चा हुआ है, जिसे देव और केशी मिलकर मारते हैं। उसके बाद एक आदमी के आकार का विशाल तिलचट्टा आता है। केशी उसे पसन्द करती है। देव तिलचट्टे को मारने की कोशिश करता है, परन्तु केशी चीखकर तिलचट्टे को छुड़ाती है और यहीं स्वप्न टूट जाता है। दोनों ही स्वप्न-दृश्य देव और केशी के मनोवैज्ञानिक ग्रंथियों से सम्बद्ध हैं।

नाटक के अंत में एक आतंकवादी पुलिस से पीछा छुड़ाने के लिए केशी के घर में कूद आता है। केशी उस घायल आतंकवादी की सेवा करती है। यह घायल आतंकवादी शायद वही व्यक्ति है, जो बकरे की बोली बोलता है और जिस पर देव को शक है। इसके बाद नींद की गोलियों की वजह से देव की मृत्यु हो जाती है। आतंकवादी पुलिस के डर से भाग निकलता है। उसके जाने के बाद केशी उसके जूते और जुराबें अपने सीने से लगा देती है। डॉ॰श्रीमती रीताकुमार के शब्दों में- "नाटककार ने मानव मन के भीतर छिपी कुंठाओं, अमानवीयता और वर्तमान युग के चक्रव्यूह का, जिसमें मनुष्य पिसता चला जा रहा है पर उससे मुक्त नहीं हो सकता, प्रभावशाली अंकन किया है। मनुष्य की विवशता और अस्तित्वहीनता का यह करूण आलेख कटु तो है, पर युग का सत्य भी है।"[33]

तेन्दुआ -

मुद्राराक्षस का तेन्दुआ (1973) नाटक सुविधाभोगी उच्च वर्ग की क्रूरता, अमानवीयता, यौनविकृति एवं काली करतूतों से परिचित कराता हुआ आम जनता के शोषण, संत्रास, घुटन और कष्टपूर्ण यातनामय जीवन को उजागर करता है। "तेन्दुआ" का कथ्य और प्रतीकात्मकता नाटककार की परिचित मुद्रा की ही अगली कड़ी है। "तिलचट्टा" की तरह इसमें भी न घटनाएँ हैं, न पात्रों की चरित्रगत विशेषताएँ और न ही द्वंद, मानवीय संवेदना और संवादों की टकराहट है। बल्कि इसके स्थान पर यहाँ भी मुद्राराक्षस ने वितृष्णापूर्ण भय, आतंक, जंगलीपन का अनुभव, यौनजन्य विकृति, उच्च वर्ग की शोषण प्रवृत्ति और निम्न वर्ग की यातनाओं को प्रस्तुत किया है। वस्तुतः यौन अभिप्रायों के खुले और आक्रामक प्रयोग की दिशा में इस नाटक में नाटककार अपनी पिछली कृतियों से भी दो कदम आगे बढ़ गया है।

"तेन्दुआ" नाटक में भी मुद्राराक्षस ने अपने अन्य नाटकों की तरह आतंकवादी परिवेश को रूपायित किया है। आतंकवादियों को दबाने में संलग्न पुलिस कमिश्नर भूषणराय जब सही मुज़रिम को पकड़ने में नाकामयाब होता है तो वह एक ग़रीब, निरीह माली

को विद्रोही के रूप में पकड़ लाता है और उसे पुलिस लॉक अप में रखने के बदले अपनी पत्नी रेनु के हाथ सौंपता है। रेनु उसे तरह-तरह की यातनाएँ देती है। मिसेज मदान, जो इन्कमटैक्स कमिश्नर की पत्नी है, माली को टार्चर करने में रेनु का साथ देती है। रेनु और मिसेज मदान दोनों भी यौन-विकृति से पीड़ित हैं। परपीड़न रति में वे आनंद का अनुभव करती हैं। माली को उत्तेजित करने के लिए वे दोनों उसे नयी-नयी तकनीकों से यंत्रणा देती है। माली की पीड़ा में उन्हें सेक्स दिखाई पड़ता है। उसके चीखने और चिल्लाने में उन्हें संगीत का सुख मिलता है। उसके पीड़ा के कारण उछलने में उन्हें नृत्य के दर्शन होते हैं। अन्त में दोनों की क्रूर, अमानवीय यातनाओं के कारण माली मर जाता है।

नाटक में एक प्रसिध्द लोकगीत- "छापक पेड़ छिउलिया." की कई बार आवृतियाँ देकर नाटककार ने सामंतवादी परम्परा के माध्यम से वर्तमान जीवन को रेखांकित किया है। जिस प्रकार राजा दशरथ के बेटे राम की छठी के समय हिरन को मारकर मेहमानों को उसके मांस की दावत दी जाती है और हिरन की खाल से राम के खेलने के लिए खँझडी बनाई जाती है ओर उधर हिरनी ढाक के पेड़ के नीचे खड़ी होकर हिरन की याद करके रोती है, उसीप्रकार रेनु और मिसेज मदान के आनंद में माली के प्राण जाते हैं और उसकी स्त्री बंगले के बाहर विलाप करती है। नाटक में रेनु और मिसेज मदान की विकृत और विक्षिप्त मनोवृत्ति को बीभत्सपूर्ण ढंग से चित्रित किया गया है।

"तेन्दुआ" नाटक में नाटककार ने प्रथम और तृतीय अंक में छः लड़कों के वार्तालाप और परिस्थिति के माध्यम से ऐब्सर्डिटी से वर्तमान जीवन के एक घिनौने पक्ष का उद्घाटन किया है। रेनु राय और मिसेज मदान का आचरण पाशविकता को भी लजा देने वाला है। यहाँ नाटककार सभ्यता और संस्कृति के विकास के बावजूद मनुष्य में विकसित हो रही पशुता, बर्बरता, क्रूरता और अमानवीयता पर हमारा ध्यान आकृष्ट करना चाहता है।

इस नाटक में तीन अंक है। पहले अंक में रेनु राय के बंगले के बाहर का दृश्य है, दूसरे में बंगले के अन्दर का और तीसरे में फिर बंगले के बाहर का। कथानक में बीच-बीच में प्रधानमंत्री का भाषण और दूसरी ओर यंत्रणा से छटपटाते माली का दृश्य वर्तमान युग के त्रासद परिवेश को बहुत मार्मिकता से प्रस्तुत करता है। नाटक की भाषा पात्रानुकूल है। रेनु राय और मिसेज मदान के संवादों में अंग्रेजी के शब्दों और वाक्यों का अधिक प्रयोग हुआ है। प्रतीक योजना भी दुरूह और क्लिष्ट है। इस कारण नाटक एक विशेष

वर्ग तक ही सीमित रह जाता है।

शोध कार्य की दिशाएँ -

मुद्राराक्षस के व्यक्तित्व और कृतित्व को ध्यान में रखकर उनके असंगत नाटकों के अध्ययन की दिशाएँ इस प्रकार निर्धारित की जा सकती है-

1. **विसंगत जीवन बोध -**

यद्यपि मानव जीवन सुसंगति से भरा-पूरा दिखाई देता है, फिर भी उसकी असंगतियों को नज़रअन्दाज़ नहीं किया जा सकता। मुद्राराक्षस ने अपने असंगत नाटकों में मानव जीवन की विभिन्न असंगतियों का पर्दाफाश किया है। अतः उनके असंगत नाटकों का प्रतिपाद्य मानव जीवन की विसंगतियाँ ही हैं।

2. **मनोवैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य -**

मुद्राराक्षस के असंगत नाटकों के अधिकांश पात्र असामान्य (Abnormal) हैं। उनमें अनेक प्रकार की लैंगिक, चरित्रगत एवं अन्य प्रकार की विकृतियाँ दिखाई देती हैं। अतः उनके असंगत नाटकों को मनोवैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य में परखना अपने आप में अनिवार्य हो जाता है।

3. **नाट्य-शिल्प -**

मुद्राराक्षस के असंगत नाटकों का नाट्य-शिल्प परम्परागत नाटकों से भिन्न है। वैसे भी परम्परागत नाट्य-शिल्प द्वारा जीवन की असंगतियों को प्रकट करना आसान नहीं है। मुद्राराक्षस ने असंगत नाट्य-शिल्प के माध्यम से जीवन की विभिन्न असंगतियों को वाणी दी है, अतः उनके नाट्य-शिल्प को समझ लेना भी जरूरी बन जाता है।

4. **रंगमंचीय आयाम -**

कोई भी नाटक मूलतः रंगमंच पर प्रस्तुत करने के उद्देश्य से ही लिखा जाता है। मुद्राराक्षस तो नाटककार होने के साथ-साथ अभिनेता और निर्देशक भी रहे हैं। साथ ही उनके नाटकों का मंच-विधान भी परम्परागत नाटकों से कुछ भिन्न है। अतः उनके असंगत नाटकों का रंगमंचीय अध्ययन भी आवश्यक हो जाता है।

मुद्राराक्षस के असंगत नाटकों के अध्ययन की इन्हीं दिशाओं को ध्यान में रखकर अगले अध्यायों में शोधपरक विवेचन-विश्लेषण करने का प्रयास किया गया है।

निष्कर्ष -

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि -

* हिन्दी की असंगत नाट्य-परम्परा में विशेष योगदान देने वाले नाटककारों में

भुवनेश्वर प्रसाद, विपिनकुमार अग्रवाल, मणि मधुकर, मुद्राराक्षस, डॉ·लाल तथा रामेश्वर प्रेम के नाम उल्लेख्य हैं।

* मुद्राराक्षस बहुमुखी प्रतिभासम्पन्न व्यक्तित्व के धनी हैं। उनके असंगत नाटक भोगे गये यथार्थ का ही अंकन करते हैं।
* मुद्राराक्षस के असंगत नाटकों पर प्रकृतवाद, अभिव्यंजनावाद, थिएटर ऑफ क्रूयेल्टी और पाश्चात्य ऐब्सर्ड नाट्य-शिल्प का विशेष प्रभाव दिखाई देता है।
* उनके मरजीवा, योर्स फेथफुली, तिलचट्टा और तेन्दुआ नाटकों में आधुनिक युग के विसंगत परिवेश, मानवीय संबंधों का खोखलापन, मनुष्य में सभ्यता के विकास के बावजूद बढ़ती हुई पशुता, मूल्य-विघटन, घिनौनापन, हिंसा, क्रूरता, यौन-विकृति से उत्पन्न कुंठा, निराशा और संत्रास को नग्न यथार्थ के रूप में प्रस्तुत किया गया है।
* कथ्य, शिल्प और रंगमंच की दृष्टि से मुद्राराक्षस का योगदान विशेष महत्त्वपूर्ण है।

<u>संदर्भ</u> -

1· संपा·नरनारायण राय, "असंगत नाटक और रंगमंच" (डॉ·नरनारायण राय, "असंगत नाट्य और जीवन संदर्भ",लेख) प्र·सं·1981, पृ·83

2· डॉ·सत्यवती त्रिपाठी, "आधुनिक हिन्दी नाटकों में प्रयोगधर्मिता" प्र·सं·1991, पृ·193

3· डॉ·गिरीश रस्तोगी, "समकालीन हिन्दी नाटक की संघर्ष चेतना", प्र·सं·1990, पृ·124-131

4· डॉ·सुषम बेदी, "हिन्दी नाट्य प्रयोग के संदर्भ में", प्र·सं·1984, पृ·251

5· डॉ·श्रीमती रीताकुमार,"स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी नाटकःमोहन राकेश के विशेष संदर्भ में" प्र·सं·1980, पृ·55

6· मणि मधुकर, "रसगंधर्व", द्वि·सं·1978, पृ·49

7· डॉ·जयदेव तनेजा, "आज के हिन्दी रंग नाटकःपरिवेश और परिदृश्य", प्र·सं·1980, पृ·164

8· डॉ·सत्यवती त्रिपाठी, "आधुनिक हिन्दी नाटकों में प्रयोगधर्मिता" प्र·सं·1991, पृ·144

9· वही, पृ·145

10· डॉ·शेखर शर्मा, "समकालीन संवेदना और हिन्दी नाटक" प्र·सं·1988, पृ·225-228

11· डॉ·सत्यवती त्रिपाठी, "आधुनिक हिंदी नाटकों में प्रयोगधर्मिता" प्र·सं·1991, पृ·140

12· डॉ·गिरीश रस्तोगी, "समकालीन हिन्दी नाटकों की संघर्ष चेतना", प्र·सं·1990, पृ·215-216

13· हमीदुला, "उलझी आकृतियाँ" (समय संदर्भ) प्र·सं·1973, पृ·44

14· डॉ·श्रीमती रीताकुमार, "स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी नाटक:मोहन राकेश के विशेष संदर्भ में" प्र·सं·1980, पृ·121-122

15· डॉ·गिरीश रस्तोगी, "समकालीन हिन्दी नाटकों की संघर्ष चेतना", प्र·सं·1990, पृ·224-225

16· मुद्राराक्षस, "मरजीवा" (आकाशभाषित), सं·अनुल्लिखित, पृ·10

17· संपा·डॉ·विजयकांत धर दुबे, "हिन्दी नाटक:प्राक्कथन और दिशाएँ" (डॉ·अज्ञात, "समकालीन हिन्दी नाटक:रंगस्थिति और संभावनाएँ", लेख), प्र·सं·1985, पृ·119

18· डॉ·जयदेव तनेजा,"समसामयिक हिन्दी नाटक और रंगमंच", सं·अनुल्लिखित, पृ·88

19· डॉ·गोविंद चातक, "आधुनिक हिन्दी नाटक: भाषिक और संवादीय संरचना",प्र·सं·1982 पृ·190

20· मुद्राराक्षस का अनुसंधाता के नाम पत्र, दि·26·11·1992

21· डॉ·जयदेव तनेजा, "हिन्दी रंगकर्म: दशा और दिशा", प्र·सं·1988, पृ·57

22· डॉ·ब्रजराज किशोर, "हिन्दी नाटक और रंगमंच:समकालीन परिदृश्य", प्र·सं·1988, पृ·150

23· डॉ·जयभगवान गुप्ता, "हिन्दी रेडियो नाटक:अद्यतन अध्ययन", प्र·सं·1982, पृ·235-252

24· डॉ·गिरीश रस्तोगी, "समकालीन हिन्दी नाटक की संघर्ष चेतना", प्र·सं·1990, पृ·75-78·

25· डॉ·दशरथ ओझा, "आज का हिन्दी नाटक:प्रगति और प्रभाव", प्र·सं·1984, पृ·106

26· डॉ·गोविंद चातक,"आधुनिक हिन्दी नाटक: भाषिक और संवादीय संरचना", प्र·सं·1982, पृ·199

27· मुद्राराक्षस, "मरजीवा" (आकाशभाषित), सं·अनुल्लिखित, पृ·7

28· मुद्राराक्षस, "योर्स फेथफुली", सं·अनुल्लिखित, पृ·40

29· वही पृ·66-67

30· डॉ·गिरीश रस्तोगी,"समकालीन हिन्दी नाटक की संघर्ष चेतना", प्र·सं·1990, पृ·65

31· मुद्राराक्षस, "तिलचट्टा"(चंद बातें), द्वि·सं·1976, पृ·7

32· डॉ·शेखर शर्मा,"समकालीन संवेदना और हिन्दी नाटक", प्र·सं·1988, पृ·223

33· डॉ·श्रीमती रीताकुमार,"स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी नाटकःमोहन राकेश के विशेष संदर्भ में", प्र·सं·1980, पृ·135